प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

प्रास्ताविक :-

हम तो यही कह सकते हैं कि जब से मनुष्य का अपना विकास हुआ है, उसने भाषा का विकास तो किया ही है लेकिन अपनी अनुभूति को व्यक्त करने के लिए उसने साहित्य का निर्माण किया। साहित्य में अलग-अलग विधाओं का समावेश हो जाता है। नाटक उन्हीं में से एक विधा है। अन्य विधाओं की तरह नाटक विधा की व्याख्या करने का प्रयास अनेक विद्वानों ने, आलोचकों ने किया है। उनके मतों का यहाँ विश्लेषण करना आवश्यक नहीं, वैसे तो आम आदमी से भी पूछा जाय कि नाटक आपकी नजर में क्या है - तो सुना जाता है कि 'हमारा जीवन ही तो नाटक है'। हाँ, हमारा जीवन ही तो नाटक है और नाटक की व्याख्या इसके अतिरिक्त और क्या हो सकती है ? विश्व का प्रत्येक प्राणी, चाहे वह पशु हो, पक्षी हो या मानव हो, हर एक अपनी जीवन की भूमिका निभाता है लेकिन मानव प्राणी सबसे अलग हैं, क्यों अलग है इसे बताने की जरुरत नहीं। मानव का जीवन ही वह रंगमंच है जिस पर वह अपनी भूमिका निभाता है, अभिनय करता है। हर व्यक्ति के जीवन के रंग अलग होते हैं। नाटककार इन्हीं रंगों को अपने शब्दों में कल्पना एवं यथार्थ के समन्वय से अभिव्यक्त करता है। नाटक ''पुनर्प्रस्तुतिमूलक'' विधा है। इसका तात्पर्य यह है कि नाटक वह विधा है जो प्रथम नाटककार के द्वारा प्रस्तुत होती है और दूसरी बार रंगमंच पर। लेखक अपनी या समाज की अनुभूति समाज के ही सामने प्रस्तुत करता है। इसीलिए नाटक को दूसरा नाम 'दृश्यता' मिला है।

जैसे - जैसे मानव बदलता जा रहा है, उसकी जिन्दगी जीने की मान्यताएँ बदलती जा रही हैं। विज्ञान के विकास ने तो हर भौतिक सुविधा मानव को प्रदान की है। आकाशमार्ग से घर-घर में पहुँचानेवाला मनोरंजन का खजाना दूरदर्शन और अन्य महत्त्वपूर्ण साधनों के आगे समाज खुद को लूटा रहा है। आज का युग तो कम्प्युटर युग कहा जाता है। माना कि मनुष्य भौतिक सुख-सुविधाओं को अपना रहा है, इससे फायदे भी हो रहे हैं। घर में बैठे-बैठे नेत्र सुख का अनुभव जरूर हो रहा है लेकिन

इससे मानव जीवन में साहित्य का महत्त्व कम नहीं होता। आँखों के सामने से चल चित्र जल्दी ही मिट जाते हैं, इनका मन पर गहरा प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि साहित्य का । पाठ्य-विधा हमारे मन को संस्कारित करती है। और जिस विधा में दृश्यता का जोड़ मिला हो वह विधा तो पाठक के तन, मन को झकझोर डालती है। इसीलिए नाटक विधा के विचार सीधे दर्शक के अंतस्तल में घुस जाते हैं और यही प्रभाव की क्षमता अन्य विधाओं में नहीं।

अन्य विधाओं सें नाटक की तुलना का संकेत दिया है इसीलिए यहाँ आवश्यक हो जाता है कि अन्य विधाओं से नाटक कहाँ पर अलग है। साहित्य की प्रमुख विधा उपन्यास को ही ले सकते हैं। उपन्यास सिर्फ एक व्यक्ति पढकर आनंद ले सकता है लेकिन नाटक पठन के साथ-साथ अगर रंगमंच पर प्रस्तुत हो तो अनेक दर्शक इससे लाभ उठा सकते हैं। विचारों का आदान-प्रदान प्रत्यक्ष रुप से होता है।

लक्ष्मीनारायण लाल तो उपन्यास और नाटक में मूल अंतर से यही स्पष्ट करना चाहते है, ''उपन्यास में जहाँ यथार्थ लिखा जाता है, उसका चित्र उपस्थित किया जाता है, वहाँ नाटक में यथार्थ जिया और भोगा जाता है, यहाँ लिखा और कहा कुछ नहीं जाता।''[१]

कहानी उपन्यास की तुलना में लघु होती है। कहानी में किसी घटना या चरित्र विशेष पर ही प्रकाश डाला जाता है। इसमें सबकुछ संक्षिप्त होता है। छोटी कहानी में मानव जीवन के किसी एक सत्य का उद्‌घाटन कियाजाता है जब कि नाटक में पूरा जीवन उद्‌घाटित होता है। समूची कला नाटक में नीहित रहती है। संपूर्ण जीवन की व्याख्या इसमें होती है। नाटक लोकरंजनकारी होते हुए भी उसमें यथार्थ होता हैं। वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति होती है। एकांकी नाटका का लघु रूप है। कहानी की तरह उसमें किसी एक सत्य का उद्‌घाटन होता है। इसका मंचल काल थोड़ा होता है, संक्षिप्तता इसकी विशेषता है। इसमें भाव, अर्थव्यापार और पृष्ठभूमि में किसी एक पक्ष पर प्रकाश डाला जाता है। लेकिन नाटक में जीवन का समग्र रूप अभिव्यक्त होता है। अतीत और भविष्य दोनों ही वर्तमान के रूप में प्रत्यक्ष कराएँ जाते हैं। इसके भाव प्रवाह में सारा दर्शक, समाज डूबता है। पुस्तक पाठ, चित्र के

दर्शक और एकांत में संगीत के श्रोता से नाटक का दर्शक वर्ग मूलत: भिन्न होता हैं क्योंकि नाटक देखना एक सामूहिक प्रक्रिया हैं। मतलब नाटक को देखने के लिए विचारों के आदान-प्रदान से समाज का और कल्याण होता है। नाटक लोकरंजनकारी वस्तु होने के साथ-साथ जीवन का सजीव चित्र प्रस्तुत करता है। नाटक को सर्वाधिक, रम्य काव्य इीसलिए कहा जाता है कि वह दर्शक का मनोरंजन एक साथ करती हैं साथ ही कुछ सिखा भी जाती हैं।

अन्य विधाओं में साहित्यकार सबके लिए खुद सोचते हैं और हर वक्त यह गारंटी देते है कि आपको न देखने की जरूरत है और न सोचने की । मगर नाटककार खुद सोचकर भी पाठकों, दर्शकों को सोचने के लिए, देखने के लिए वक्त देता है। वह ऐसा ही नाटक लिखता है जिससे दर्शक अपने जीवन का सत्य देखता है। नाटक में नाटककार को प्रत्यक्ष रूप से अपने काव्य को प्रस्तुत करने की स्वतंत्रता या सुविधा प्राप्त नहीं है,जो अन्य साहित्यिक विधाओं के रचयिताओं को हैं। नाटककार अपने कल्पित पात्रों के माध्यम से अपना अभिप्रेत कथ्य प्रस्तुत करता हैं। रंगमंच पर पात्र नाटककार की कसौटी पर खरे उतरते है। "दरअसल नाटक के रंगमंच की दुनियाँ एक अप्रत्यक्ष संसार है। यूँ यह प्रत्यक्ष तो सबसे ज्यादा है, पर नाटक का प्रत्यक्षीकरण अभिनेता, निर्देशक, रंगशिल्पी की मध्यस्थता से मंच पर दर्शक के सामने होता है। यह एक विशिष्ट विधा ही नहीं, सब विधाओं से ज्यादा यह दूसरों से (दूसरी कलाओं, मनुष्य, कलाकार, अनुभव, सृजन) संपृक्त है।"[२]

निबंध की तुलना नाटक से की जाए तो निबंध पूर्ण रूप से वैयक्तिक विधा है। इसमें साहित्यकार अपने विचार पूरी स्वतंत्रता से व्यक्त करता हैं। आत्मीय विवेचन इसमें महत्वपूर्ण होता है। संक्षिप्तता भी निबंध का तत्व हैं। मगर नाटक वह विधा जिसमें निर्वैयक्तिकता होती हैं। नाटक ऐसा दर्पण है जिसमें सबकुछ दिखायी देता है, सबकुछ प्रतिबिंबित होता है। संक्षिप्तता का सवाल ही नाटक में नहीं उठता, जीवन की समग्र अभिव्यक्ति उसमें होती है। ऐसी कोई कला नहीं जो नाटक में नीहित न हो।

कविता में कवि का अपना स्वर अधिक मुखरित होता है किंतु नाटक में वह दोहरा स्वर बन जाता है। कविता अभिव्यक्ति पर अधिक बल देती है और संप्रेषणीयता को रचना का अनुषांगिक धर्म मानती है। इसके विपरीत नाटक में प्रत्येक अभिव्यक्ति संप्रेषण की तात्कालिकता में ही सार्थक होती है। काव्य में भी जीवन का सर्वांगीण चित्रण नहीं होता बल्कि कुछ ही अंश का चित्रण होता है और नाटक में सर्वांगीण चित्रण होता हैं। दृश्यात्मकता नाटक का अभिन्न अंग है। यही बात उसे अन्य विधाओं से अलग करती है। नेपथ्य विधान, मंचसज्जा,रुपसज्जा, वेशभूषा, अभिनय आदि का समावेश नाटक में हैं। रंगमंच और नाटक का अभिन्न संबंध है। नाटक श्रव्य-दृश्य काव्य है। यहीं बात अन्य विधाओं में नहीं।

समस्त कलाओं में नाटक की कला पुनर्प्रस्तुलिमूलक कला हैं। पहले जीवन से जीवन का नाटक बनाना और दूसरे उस नाटक को अभिनेताओं द्वारा दर्शकों तक पहुँचा देना। प्रसुतिकरण के लिए मंच की आवश्यकता होती है। दूसरी विधाओं में पुनर्प्रस्तुति का प्रश्न ही नहीं उठता। अर्थात नाटक विधा प्रयोगधर्मी है अर्थात इसका प्रयोग किया जाता है।

हमारी प्राचीन परंपरा यही कहती है कि नाटक कीउत्पत्ति ब्रह्मा से हुई। नाटक को 'पंचमवेद' कहा जाता है। यह नाट्यवेद चारों वेदों के अंगों से निर्मित हुआ। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख किया है। ऋग्वेद से नाट्य के कथोपकथन (पाठ्य) का, सामवेद से गान का, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस का विकास हुआ है। यह तो सत्य है कि नाटक के विकास की वास्तविक भूमिका लोक-जीवन के कलात्मक तत्वों का संगठन है।

नाटक का आरंभ कैसे हुआ इसके बारे में विभिन्न मत प्रचलित हैं। प्राचीन काल से आधुनिक युग तक भारतीय नाटकों का सुसंबध्द इतिहास चला आ रहा है। वैसे हम सभी जानते हैं कि साहित्य सृजन का रूप परंपरागत होता है। देश कालगत पूर्व साहित्यिक उपलब्धियों के आधार पर रचनाएँ अपने युग में बनती हैं, संवरती हैं, लिखी जाती है। डॉ. बालेंन्दु तिवारी ने तो जैसे नाटक के विकास की व्याख्या ही की है - ''हिंदी नाटक की विकास-यात्र नए-नए शिखरों, दुर्गम घाटियों और

घुमावदार रास्तों से होती हुई आगे बढ़ रही है।''[३] हिंदी नाटकों के आरंभ से पूर्व संस्कृत नाटकों की परंपरा विद्यमान थी। हिंदी की अन्य विधाएँ जैसे उपन्यास, कहानी तथा निबंध संस्कृत साहित्य की क्रमागत परंपरा से बहुत कम प्रेरणा पा सके हैं। वस्तुत: हिंदी नाटकों की स्वस्थ और समृध्द परंपरा का आरंभ 'भारतेंदु' से हुआ फिर भी अलग-अलग विद्वानों ने इसका अलग रुप से आरंभ माना है। डॉ.दशरथ ओझा ने तेरहवीं शताब्दी से नाटक का आरंभ माना है। डॉ.ग्रियर्सन, डॉ. कीथ, श्री मित्र बंधु तथा डॉ. रसाल ने हिंदी के आदि नाटककार 'विद्यापति' को माना है और इन लोगों ने ''रुक्मिणी परिणय'' तथा ''पारिजात हरण''की सीमा १४ वीं शताब्दी तक मानी है।[४] पंद्रहवीं और सोलहवी शताब्दी में भी जन-नाटकों की परंपरा प्रचलित थी। कई विद्वानों ने लोक नाटक से साहित्यिक नाटक का प्रारंभ माना है। डॉ. ओझा ने भी स्वाँग आदि से नाटक की परंपरा मानी है। डॉ. विजयकांतधर दुबे ने लोकनाटक के बारे में अपना मंतव्य स्पष्ट किया है, ''हाँ बीच-बीच में कभी-कभी संक्रमणशील अवस्थाओं की परिधि में साहित्यिक नाट्य-निर्माण की कड़ी टूट जाती है, पर लोकनाटक शाश्वत विधा है। यह सृष्टि सागर में उस दीप की तरह है, जिसकी परंपरा कभी खंडित नहीं होती है।''[५] डा. शुक्ल ने तो गद्य साहित्य के आविर्भाव के माध्यम रुप में नाटक को महत्त्वपूर्ण माना। इस चर्चा के बाद नाटक के उदय में एक अन्य कारण भी था पारसी कंपनियों के प्रति गहरी प्रतिक्रिया। अठाहरवी शताब्दी के उत्तरार्ध में पारसी थिएटरों की धूम रही। अंग्रेजों की व्यावसायिक दृष्टि से प्रेरणा प्राप्त कर बंबई के पारसी पूँजीपतियों ने धनोपार्जन का यह नया ढंग निकाला। लेकिन उसे कतई चिंता नहीं थी कि वह खेल क्या रहा है और दर्शक क्या चाहता है जब कि दर्शक सिर्फ नाटक चाहते थे। फिर भी विक्टोरिया कंपनी, अल्फ्रेड-थिएट्रिकल कंपनी, इन दो कंपनियों ने हिंदी नाटक के लिए मुख्य काम किया।

नाटक के विकास के आरंभ के साथ २० वीं शताब्दी तक नाटक का विकास तो हुआ, फिर भी आज नाटक की स्थिति गंभीर है। यहाँ पर नाटक का विकास समग्र रूप कैसे हुआ इसका विस्तार से अध्ययन करना आवश्यक नहीं लगता। यहाँ प्रमुख नाटककारों के योगदान को उल्लेखित करना अत्यावश्यक हो जाता है। आगे का शोध कार्य पुरा करने के लिए पीछे की ओर देखना अनिवार्य हो जाता है। समकालीन नाटककारों में मोहन राकेश का स्थान महत्वपूर्ण और अनिवार्य हो जाता है और राकेश ऐसे

नाटककार है जिन्होंने तीन महत्वपूर्ण नाटकों की उपलब्धि देकर नाट्य-जगत में अपना अपूर्व स्थान प्राप्त कर लिया है। 'आधे-अधूरे', नाट्यकृति तो हिंदी नाट्य-जगत में 'मील का पत्थर' बन चुकी है। मोहन राकेश पर प्रकाश ड़ाल्ने से पहले प्रमुख नाटककारों का योगदान,उनका राकेश पर प्रभाव और राकेश के आविर्भाव से नाटक में परिवर्तन, आदि पर चर्चा करना आवश्यक है।

भारतेंदु युग में हिंदी नाटक विधा का विकास हुआ फिर भी किसी भी विधा का विकास अचानक नहीं होता, उसके पूर्व में कुछ उपलब्धियाँ होती है। जिससे आगे के कृतिकारों को प्रेरणा मिल सके। पूर्व भारतेंदु नाटकों में 'रामायण महानाटक','हनुमन्नाहक', 'समय सार', 'प्रबोध चंद्रोदय', 'करूणाभरण', 'शकुंतला उपाख्यान', 'सभासार', 'आनंदरघुनंदन', 'नहुष', 'इन्दरसभा', 'शकुंतला' आदि आते हैं। विश्वनाथ सिंह कृत 'आनंदरघुनंदन' को हिंदी का पहला मौलिक नाटक माना जाता है तो भारतेंदु ने उनके पिता बाबू गिरिधरदास कृत 'नहुष' को हिंदी का पहला नाटक स्वीकार किया है।

प्रमुख कृतिकारों के योगदान के फलस्वरूप उनके आविर्भाव के समय से काल-निर्धारण निश्चित किया जाता रहा है। जिस मोड़ पर प्रवर्तन हो, उसी मोड़ पर नया नाम मिल जाता है। भारतेंदु युग, द्विवेदी युग या संधिकाल, प्रसाद युग, प्रसादोत्तर युग, साठोत्तरी नाटक आदि नाम प्रचलित है।

भारतेंदुजी को हिंदी साहित्य के पुनर्जागरण के अग्रदूत माना जाता है। भारतेंदु का आविर्भाव सन् १८५० ई. को हुआ। ज्यादातर हिंदी नाटक साहित्य का विकास १८६७ ई. से माना जाता है तो इससे पहले का समय भारतेंदु के व्यक्तित्व निर्माण काल के रूप में स्वीकार करना चाहिए। अत एवं भारतेंदु युग की सीमा-रेखा १८६७ ई. से १९०४ ई. तक मानी जानी चाहिए। किसी भी साहित्यकार के कृतित्व की पहचान के लिए व्यक्तित्व की पहचान जरूरी है। भारतेंदु का जन्म काशी में हुआ। 'गिरधरदास' इनके पिता और माता श्रीमती पार्वतीदेवी थी। बचपन में ही उन्हें माता और पिता के ममतामयी प्रेम से वंचित होना पड़ा। स्नेह से वंचित भारतेंदु का प्रेम मानव-प्रेम मे परिणित हो गया। युगप्रवर्तक भारतेंदु का जब हम अध्ययन करते हैं 'नाट्य-विधा' में ही उनका ज्यादा योगदान है। नाट्य-साहित्य का अध्ययन करने पर उनके नाटकों पर संस्कृत, अंग्रेजी और अधिकतर बंगला आदि

भाषाओं का प्रभाव रहा। 'उनके पूर्वज सेठ अमीचंद कलकत्ते के व्यापारी थे, केवल तीन पुश्त पूर्व वे काशी में आये थे। संभवत: उन संस्कारों के प्रस्फुटन के फलस्वरूप ही भारतेंदु ने अपनी जगन्नाथ यात्रा में बंगाल के नए जीवन और नए साहित्य को विशेष अपरिचित नहीं पाया।'[६] नवयुग का संदेश लानेवाले भारतेंदु का अंतिम समय तक बंगला समाज एवं साहित्य के प्रति संपर्क एवं झुकाव हमेशा रहा। 'वैयक्तिक जीवन में उनका परिचय मल्लिका नामक बंगदेशीय एक शालीन एवं सौम्य स्त्री से हुआ जो उनकी कल्पना एवं भावना को अपनी साहित्यिक रूचि से अनुरंजित करती रही।'[७] संक्षेप में उन पर बंगला प्रभावि ज्यादातर है। भारतेंदु के नाटकों में प्राचीनता के प्रति संस्कारगत मोह और नवीनता के प्रति अज्ञात आकर्षण है। नाट्यकला के सभी तत्वों का समावेश करनेवाले वे पहले नाटककार है, जो तत्कालीन समय में मौजुद थे। वस्तु चयन, चरित्र-चित्रण, संवाद और भाषा प्रवाह, हास्य और व्यंग्य, गीतों का स्थान, अभिनय, नाट्यकला इन सबको अपने नाटकों में बारीकी से चित्रित किया है। अपने समय में जो समस्याएँ थी, रुढ़िगत परंपरा थी, इनको हटाने का प्रयास पहली बार भारतेंदु ने नाटक के माध्यम से किया।

साहित्यिक कृतित्व को परखने के लिए उनके मौलिक नाटकों का उल्लेख आवश्यक है - 'विद्यासुंदर', 'प्रेम जोगिनि', 'विषस्य विषमौषषम्', 'चंद्रावली', 'भारत दुर्दशा', 'भारत जननी', 'नीलदेवी', 'अंधेर नगरी', और 'सती प्रताप' आदि और 'प्रेम जोगिनी', 'विषस्य विद्यमौषधम्' और 'सती प्रताप' अधूरे हैं।'[८] अनुवादित नाटकों में 'रत्नावली', 'मुद्राराक्षस', 'कर्पूरमंजरी' और 'प्रबोध चन्द्रोदय' के एक खंड दृश्य को 'पाखण्ड विडंबन', 'दुर्लभबंधु' आदि का समावेश होता है। 'विद्यासुंदर' से प्रेम-प्रधान नाटकों कासूत्रपात हुआ।[९] उनका 'सती प्रताप' पौराणिक नाटक प्राचीन आदर्शों की स्थापना के साथ स्त्री जाति के सुधार एवं उध्दार का प्रतीक है। ऐतिहासिक नाटकों के साथ देश की गौरवगाथा और वर्तमान दशा का चित्रण भारतेंदु की खूबी है। 'भारत दुर्दशा' के बारे में डा.सत्येंद्र तनेजा का मंतव्य स्पष्ट है - 'यह एक प्रतीकवादी नाटक है जिसमें बताया गया है कि भारत दुर्देव की सेना से आग्रस्त एवं पीड़ित है।'[१०] कुलमिलाकर यही कहा जा सकता है कि उन विवशकालीन परिस्थितियों में भारतेंदु साहित्य क्षेत्र में उस दीप की तरह जल उठे जिसकी लौ आज के नाटक के

विकास के लिए एक महत्वपूर्ण राह बन चुकी है। इससे ज्यादा उनके योगदान के बारे में और क्या कहा जा सकता है। भारतेंदु के बाद उनके समकालीन नाटककारों ने भी योगदान दिया। बालकृष्ण भट, श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी, केशवराम भट्ट, काशीनाथ, शालिग्राम वैश्य, राधाकृष्णदास, बलदेवप्रसाद मिश्र, ज्वालाप्रसाद मिश्र, किशोरीलाल गोस्वामी, गोपालराम गहमरी, अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि भारतेंदु के समकालीन नाटककार हैं। इन्होंने भारतेंदु के समान ही नाटकों की रचना करने का प्रयास किया।

भारतेंदु के बाद और प्रसाद के आविर्भाव से पहले कोई भी नाटककार युग प्रवर्तक नहीं बन सका। इसी काल को संक्रातिकाल कहा जाता है। इसी द्विवेदी युग में भारतेंदु के बाद एक विवशता का स्वर था जिसने अपने आस-पास का सहारा ढूँढा। 'सरस्वती' के प्रकाशन से ही हिंदी साहित्य में एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ।'[११] अनुवादों के भरमार की प्रचलित परंपरा इस युग की प्रमुख देन है। भारतेंदु के बाद देश में राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों ने अलग मोड़ अपना लिया था और इसी समय बंगला के साहित्य का वह स्वर्ण युग था। रवींद्र और द्विजेंद्रलाल राय बंगला साहित्य के प्रमुख थे। इसका प्रभाव हिंदी नाटककारों पर पड़ा। इन्होंने बंगला की कुछ महत्वपूर्ण कृतियाँ चुनकर, कुछ उसमें अपने विचार डालकर अनुवादों की परंपरा चलायी। इसी समय पारसी रंगमंच का बोलबाला था। शुध्द साहित्यिक कृतियों का अभाव था। इसी प्रतिक्रियावश रंगमंच का उदय हुआ। संक्षेप में बंगला साहित्य में इस नाटककारों ने अपनी खोई हुई आस्था पाई थी। इस नाटककारों में परमेश्वर मित्र, तुलसीदास, नरोत्तम व्यास, गुप्त बंधु, हरिदास माणिक, आनंद प्रसाद खत्री, माधव शुक्ल, माखनलाल चतुर्वेदी, रामप्रसाद मिश्र, भंवरलाल सोना, पं. बचनेश मिश्र, गोकुलदास वैश्य, अमरनाथ कपूर, मनसुखलाल सोजतिया, चन्द्रनारायण सक्सेना, आनंदीप्रसाद श्रीवास्तव, शिवप्रसाद चारण, विश्वंभर सहाय, द्वारिकाप्रसाद मौर्य, चन्द्रशर्मा, यमुनाप्रसाद त्रिपाठी, व्यथित हृदय, जनार्दन राय, कुंवर वीरेंद्र रघुवंशी, रामचंद्र श्रीवास्तव, हरिश्चंद्र सेठ, परिपूर्णानंद वर्मा, चन्द्रराज भंडारी, पं.जिन्नेश्वर प्रसाद 'मायल', लोकनाथ सिलाकारी, लाला छोटेलाल 'लघु', पं.नत्थीलाल उपाध्याय बैचेन, डा.सुवर्णसिंह

शर्मा आदि हैं। बंगला नाटककार गिरीश, राजकृष्णराय, बंकिमचंद्र, द्विजेंद्रलाल राय, रवींद्र आदि और अन्य नाटककारों का प्रेरणा स्त्रोत उपर्युक्त नाटककारों को प्रेरित करता रहा।

संक्षेप में 'सरस्वती' के प्रकाशन से हिंदी नाट्य साहित्य का जैसे नया युग शुरु हुआ। महावीर प्रसाद द्विवेदीजी इसके संपादक थे। बंगला साहित्य से परिचित दिशा - निर्देशक की भूमिका उन्होंने निभायी। फलस्वरुप इस युग के नाटककार ने अनुवादों द्वारा अपने हृदय की भावनाओं को अभिव्यक्ति दी। संक्षेप में बंगला साहित्य के अनुवादों का हिंदी साहित्य में मूल कृतियों-सा स्वागत हुआ।

श्री. जयशंकर प्रसाद वस्तुत: माँ सरस्वती के अमर 'प्रसाद' ही थे, लेकिन नाट्य-साहित्य में भी उन्हें प्रवर्तक माना जाता है। जयशंकर प्रसाद के आविर्भाव (सन् १८८९-१९३७) के साथ हिंदी जगत में एक नया आंदोलन प्रारंभ हो चुका था। प्रसादजी को मालूम था कि उनसे पूर्व हिंदी नाटक को अपनी कोई पुष्ट परंपरा नहीं है। प्रसादजी पर बंगला साहित्य का प्रभाव है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि कोई भी कृतिकार अपनी पूर्व की परंपरा से कुछ लेकर अपने नए विचारों को उसमें ढ़ालकर नयी कृति का निर्माण करता है, ऐसा वही करता है जो प्रतिभाशाली हो और प्रसादजी प्रतिभाशाली नाटककार हैं।

प्रसाद के रचनाकाल के समय देश अपनी दासता की श्रृंखलाओं की बेड़ी से मुक्ति चाहते थे। इसीके अनुरूप प्रसादजी ने सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय पुनरूत्थान से निर्मित ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। सन् १९१० से ही प्रसाद ने नाटकों की रचना आरंभ की। 'सज्जन', 'कल्याणी परिणय', 'करूणालय', 'प्रायश्चित', 'राज्यश्री', 'विशाखा', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'अजातशत्रु', 'कामना', 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि नाटकों का निर्माण किया। प्रसाद रोमांटिक चेतना के कलाकार हैं। प्राय: प्रसाद के नाटकों को प्रसादान्त कहा जाता है। कोई भी कृति हो उसका अंत सुखांत होता है या दुखांत। प्रसाद के नाटक सुखांत भी है लेकिन ज्यादातर दुखांत ही है। 'स्कंदगुप्त' इसका प्रमाण है। डॉ.तनेजा के शब्दों में, 'इसमें कोई संदेह नहीं कि उनके समस्त नाटकों में रूप और यौवन की उष्णता है, परंतु इससे दु:ख एवं निराशा के भावात्मक पक्ष की अवहेलना नहीं की जा सकती। उनके

नाटक मूलतः दुखांत है। परंतु प्रसाद ने इसे नवीन अर्थ दिया है।'[१२]

संक्षेप में मानवतावादी दृष्टि को अपनाते हुए देश की गौरवगाथा को सांस्कृतिक गरिमा के साथ प्रदान किया। प्रसादजी ने रंगमंच को नाटक से दूर रखने का जैसे प्रयास किया है। चाहे जो कुछ भी हो उनके नाटक श्रेष्ठ है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। प्रसाद के समकालीन नाटककारोंमें भी प्रतिभाशाली नाटककार हैं जिन्होंने प्रसाद का अनुसरण किया। चतुरसेन शास्त्री, पांडेय बेचन शर्मा, सुदर्शन, जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद, हरिकृष्ण प्रेमी, दुर्गादत्त पांडेय, बलदेवप्रसाद मिश्र, कुंदनलाल साह, मैथिलीशरण गुप्त, विश्वंभरनाथ शर्मा, द्वारिकाप्रसाद गुप्त, बद्रीनाथ भट्ट, ललिताप्रसाद त्रिवेदी, वियोगी हरि, मथुरादास, मिश्र बंधु, गोविंदवल्लभ पंत, कामताप्रसाद गुरू, चंद्रराज भंडारी, प्रेमचंद, उदयशंकर भट्ट, गोविंददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि हैं।

इनमें से कई नाटककार प्रसादोत्तर युग के प्रमुख नाटककार बन चुके हैं। इस युग में महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि हिंदी नाटक को व्यावसायिकता के आवर्त से बाहर निकाला गया। प्रसादोत्तर युग दो धाराएँ में विभाजित है जैसे प्राक्स्वातंत्र्य और स्वतंत्रता के बाद। सामाजिक परिस्थिति के बदलते स्वरुप ने नाटककार की सोच को भी बदल ड़ाला। भारतीय नाट्यशास्त्र के तत्त्वों के साथ पाश्चात्य तत्वों ने भी नाटककार में परिवर्तन किया। इब्सन और शॉ का लक्ष्मीनारायण मिश्र पर प्रभाव इसका सप्रमाण है। बंगला का भी प्रभाव जारी था।

पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक धाराएँ विकसित रही थी। मूल प्रवृत्ति की दृष्टि से इन्हें आदर्शोन्मुख भावनाप्रधान तथा यथार्थोन्मुख विचारप्रधान आदि दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। चतुरसेन शास्त्री, उदयशंकर भट्ट, किशोरीदास बाजपेयी आदि प्रमुख है। इसके साथ-साथ हरिकृष्ण प्रेमी और लक्ष्मीनारायण मिश्र के बाद जगदीशचंद्र माथुर, लक्ष्मीनारायण लाल, विनोद रस्तोगी, धर्मवीर भारती और मोहन राकेश जैसे नाटककार हिंदी नाट्य विधा पर छाये रहे। स्वातंत्र्योत्तर काल जैसे हिंदी नाट्य-विधा के लिए एक अपूर्व एहसास बनकर रह गया क्योंकि वास्तव में रंगमंच का उद्देश्यपूर्ण विकास यहीं से शुरू हुआ। 'कोणार्क', 'अंधायुग' और 'आषाढ़ का एक दिन' आदि नाटकों

ने तो नाटक विधा को नया मोड़ दिया। इस काल में नाटक की सार्थकता रंगमंच पर अभिनीत कर प्रेक्षकों तक पहुँचाने में ही रही है और लगभग आज भी यही मान्यता है। १९४७ से १९६० तक का काल नाट्य-विधा का चरम उत्कर्ष साबित हुआ। १९६० से लेकर आज तक यह क्रम चल रहा है। राकेशजी के साथ-साथ धर्मवीर भारती, लक्ष्मीनारायण लाल, नरेश मेहता, कवि दुष्यंतकुमार, विनोद रस्तोगी, ललित सहगल, माथुर, बादल सरकार (बांगला नाटककार), अमृतराय आदि नाटककारों ने भी नाटक विधा में अपना योगदान दिया। इनके साथ अन्य कई ऐसे नाटककार भी हैं जो राकेश के समकालीन थे। लेकिन राकेश ने अपने नाटकों का निर्माण करके इन सबमें अपनी अलग पहचान बनायी हैं जो आज भी बरकरार है।

१०७० के बाद भी मोहन राकेश ने 'अंडे के छिलके' तथा अन्य एकांकी बीज नाटक, छतरियाँ जो एक पार्श्व नाटक हैं, रात बीतने तक तथा अन्य ध्वनी नाटक, इसके साथ-साथ 'पैर तले की जमीन' का निर्माण किया है। मोहन राकेश तो अपने को 'आधे-अधूरे' ही सीमित कर लेते हैं, वहीं उनका महत्त्वपूर्ण नाटक लगता हैं फिर भी उनके ये बाद के छोटे नाटक भी अपना स्थान अबाधित रखते हैं। 'आधे-अधूरे' में तो नाटकाकार का साहित्यिक रूप संपूर्ण रूप से उजागर हुआ हैं इसीलिए आज भी हिंदी नाटक के विकास में यह नाटक 'मील का पत्थर' बन चुका है।

मोहन राकेश ने अपने को बदलती धारा के अनुसार बदल लिया, साहित्य में भी वहीं किया। समय के साथ बदलती जीवन की मान्यताएँ उनके नाटकों में प्रवर्तित हुई हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' से लेकर 'पैर तले की जमीन' इसके प्रमाण हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' में कालिदास अंतत: न जाने कहाँ चला जाता है। 'लहरों के राजहंस' का नंद भी न उसे भिक्षु बनने में रूचि है और न वह सुंदरी को भूला सकता है। अंत में निराश होकर चला जाता है और इसका अत्याधुनिक रूप 'आधे-अधूरे' में प्रदर्शित होता है। यहाँ तो सिर्फ मजबूरी है परिवार की। तीनों नाटकों में जैसे सिर्फ स्थगिती है, न कोई आगे जाता है और न पीछे रहना चाहता है। कोई कुछ भी नहीं कर पाता। यह आज की विडंबना है। 'आधे-अधूरे' तो आज का प्रतिनिधि नाटक लगता है क्योंकि आज भी मानव कहीं ना कहीं अधूरा है,

तनाव से ग्रस्त है, मजबूर है, लाचार है, घुटन से परेशान बेकारी के अँधेरे में भटक रहा है। महानगरीय जीवन तो उसे जैसे खा जाना चाहता है। वह आज अपने को चींटी बराबर मानने लगा है जिसका ऐसी भीड़ में कोई वर्तमान नहीं, भविष्य नहीं।

मोहन राकेश के नाटक ही क्या, उनकी कहानियाँ, उनके उपन्यास, एकांकी, आलोचनाएँ इन सबमें त्रिकोण उभरता है जिसमें यथार्थ, भावना और जीवन-अनुभव एक दूसरे के प्रति लाभदायक कम त्रासदायक ज्यादा है। इनमें जो मानसिकता झलकती है, बेबसी झलकती है इनका जवाब कहाँ ढूँढे? इसकी जिम्मेदारी को समाज के सामने रखा है।

राकेशजी ने जो कुछ भी लिखा है, उसके उपलब्धि के फलस्वरूप नाटक के लिए विशेष योगदान दिया है। नाटक के तत्त्वों को लेकर उसमें परिवर्तन किया है। कथानक से लेकर नामकरण तक आधुनिकता की झलक उनके नाटकों में दिखाई देती हैं। कथावस्तु, पात्र, संवाद, रस, भाषा, अभिनेयता, उद्देश्य, नामकरण, आधुनिकता आदि को अपने नाटकों में विचारपूर्वक संजोया है। 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' और 'आधे-अधूरे' तक का कथ्य विस्तार इसका सप्रमाण है। 'अंडे के छिलके' तथा अन्य एकांकी बीज नाटक,पार्श्व नाटक, 'रात बीतने तक' तथा अन्य ध्वनि नाटक 'पैर तले की जमीन' आदि उनके आधुनिक होने के प्रमाण हैं।

नाटकों के कथानकों में नवीनता है। 'आषाढ़ का एक दिन' में नवीनता है, यहाँ ऐतिहासिकता का भास है मगर समकालीनता का बोध है। 'लहरों के राजहंस' में तो व्यापक प्रतीक योजना की नवीनता हैं जो साठोत्तरी नाटकों की विशेषता साबित हुई है। 'आधे-अधूरे' में तो आधुनिक समाज की झलक कथानक का सार हैं। तीनों नाटकों के पात्र क्रमशः सीमित हैं, अधिकता नहीं है। द्वंद्व से पीड़ित पात्र स्त्री-पुरूष संबंधों का निर्वाह करते हैं। इस के बारे में तो नाटककार ने परंपराओं से हटकर पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित होकर दुःखट घटनाओं की सृष्टि की है। फलस्वरुप नाटकों का अंत करूण रसों में हुआ है।

काव्यात्मकता के साथ-साथ प्रतीकात्मकता और सांकेतिक कल्पनाशीलता का प्रयोग हुआ और इस तरह रंगमंच पर नए ढंग की जीवंत भाषा का उदय हुआ। सहज कहना होगा कि राकेशजी ने भाषा को लेकर जो नवीनता अपनाई वह हिंदी नाट्य-भाषा के लिए एक महत्त्वपूर्ण कार्य बन चुका है। भाषा को लेकर राकेशजी ने सतर्कता अपनाई है। संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग सांस्कृतिक परिस्थितियों का परिवेश उत्पन्न करने के लिए किया है। 'प्रसाद' के बाद तो जैसे साहित्यिक भाषा प्रयोग वर्जित हो गया था। लेकिन राकेशजी ने साहित्यिक एवं संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग किया। इन नाटकों की भाषा कहीं-कहीं क्लिष्ट तो जरूर लगती है लेकिन स्वाभाविकता बनाने की क्षमता इन नाटकों की खूबी है। 'आधे-अधूरे' की भाषा सीधी-साधी रोजमर्रा की हिंदी है जिसमें अरबी-फारसी के अतिरिक्त अँग्रेजी शब्दों का व्यवहार हुआ है। अभिनेयता को लेकर राकेश ने हिंदी नाटक के लिए नए रास्ते की ऐसी शुरूआत की है जो हिंदी रंगमंच के लिए राजमार्ग बन चुका है। इसका प्रमाण यह हैं कि उनके सभी नाटकों का जो सफल मंचन हुआ है। उद्देश्य तो हर साहित्यकार का लक्ष्य होता है क्योंकि यह उद्देश्य युगजीवन और समाज से संबंधित होता है। यही राकेशजी ने भी किया है। आज सबके सब हालातों के आगे मजबूर हैं और उनका मानवीय संघर्ष चरम सीमा पर है। कहीं पर नारी दयनीय दशा का शिकार है, कहीं पर पुरूष के पास अहंवृत्ति होकर भी वह बेबस है। बस यह कहिए उनका जीवन आधा हैं - अधूरा हैं, कहीं पर भी संपूर्ण नहीं हैं। वह कुछ भी नहीं कर सकता। ऐसा क्यों? राकेशजी भी बता नहीं पाये, लेकिन सब परिस्थितियाँ, मनों के संघर्ष, स्त्री-पुरूष संबंध राकेशजी ने उजागर किये हैं। नामकरण के बारे में भी राकेशजी पीछे नहीं बल्कि दो कदम आगे ही हैं। प्राय: साहित्यिक रचनाओं का नामकरण उद्देश्य, या नायक-नायिका के नाम या मुख्य घटना के आधार पर किया जाता है। स्पष्टत: राकेशजी ने तीनों नाटकों के नामकरण नायक-नायिका के नाम पर प्रत्यक्ष नहीं रखे हैं बल्कि उनके जीवन से जुड़े सवालों पर रखे हैं। ऐसे नामकरण है कि नाटक पढ़ने के लिए मजबूर हो जाते हैं।

आधुनिकता के बारे में राकेशजी ने नाटकों का अध्ययन करें तो गोविंद चातकजी ने उन्हें 'आधुनिक नाटका का मसीहा' घोषिक करते यह साबित किया है कि आधुनिक समकालीन नाटककारों

में राकेश का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण है। आधुनिकता उनके नाटकों में हीं नहीं बल्कि कहानियों, उपन्यासों में भी है। हम जहाँ-तहाँ उनके विचारों को पढ़ते है तो लगता है कि उन्होंने जो कुछ नाटक के विकास के लिए किया है, शायद ही किसी और ने किया हो। नाटकों की भूमिकाओं में उन्होंने रंगमंच, भाषा, संवाद आदि-आदि को लेकर अपने समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने नाटकों की सृष्टि खुद कम की हैं लेकिन हिंदी नाटक कैसे होने चाहिए इसके लिए उन्होंने ज्यादा योगदान दिया है। इसीका अध्ययन करने हम आगे प्रस्तुत होंगे।

संक्षेप में राकेशजी के बारे में यह कहना होगा की उन्होंने यथार्थ, भावना और जीवन अनुभव को एक साथ पिरोकर समाज की नस को पकड़ने का अथक प्रयास किया है। आगे के अध्याय में उनके व्यक्तिव और कृतित्व को साथ लेकर उनके नाटकों का सर्वेक्षण करना एक मेरे लिए चैलेंज बन चुका हैं। राकेशजी पर बहुत से प्रबंध प्रस्तुत हो चुके हैं, हो रहे हैं और होंगे भी। उनके नाटकों का अध्ययन करना जितना सरल लगता है, उतना आसान नहीं है क्योंकि नाटक पढ़ते वक्त भावनाओं की गहराई और गहरी होती जाती है, यथार्थ तो यथार्थ ही है और जीवन - अनुभव उनका अपना लगता है और हमारा अपना भी। यहाँ पर ही उनका वास्तव में साहित्यिक परिचय हो जाता है और एक सफल नाटककार के दर्शन भी।

संदर्भ सूची

१. लक्ष्मीनारायण लाल, 'आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंग, पृ.२८

२. वही,पृ. ४९

३. डॉ. बालेंदु तिवारी, डॉ. बादामसिंह रावत, 'हिंदी नाटक के सौ वर्ष : दो शब्द'

४. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ.२८६

५. डॉ. विजय कांतधर दुबे, 'हिंदी नाटक प्राक्कथन और दिशाएँ', पृ.१०

६. डॉ. सत्येंद्र तनेजा, 'हिंदी नाटक पुनर्मुल्यांकन', पृ.४५

७. वही, पृ.४७

८. बबन सिंह, 'हिंदी नाटक', पृ.२६

९. डॉ. सत्येंद्र तनेजा, 'हिंदी नाटक पुनर्मुल्यांकन, पृ. ४९

१०. वही, पृ. ३३

११. वही, पृ. २०

१२. वही, पृ. २४८